स्वतंत्रता संग्राम में दलितों एवं ब्राह्मणों का योगदान

रितु गुप्ता

असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग
जी. एम. एन. (पी.जी.) कॉलेज,
अम्बाला छावनी

स्वतंत्रता संग्राम में जिस अध्याय की रचना तरूण क्रांतिकारियों ने अपने हृदय के रक्तदान से की थी, आज स्वतंत्र भारत में उसी अध्याय को स्वीकार करते हुए इतिहासज्ञ हिचकते हैं। इतिहास के पृष्ठों पर इसी अध्याय को राष्ट्रीय संग्राम का अंश मानकर पंडितों की कलम की स्याही सूख जाती है। यह संकोच क्यों? इस प्रकार के ज्वलंत सत्य से आँख–मिचौनी आखिर क्यों? इसका एक कारण यह है कि हम उन क्रांतिकारी हुतात्माओं का सही मूल्यांकन करने में आज भी असमर्थ हैं।[1]

फाँसी की रस्सी से झूलते हुए शहीद को तो लोगों ने पहचाना परन्तु संसार के सारे बंधनों का अतिक्रमण करने वाले, कामना तथा वासना रहित वैरागी विप्लवी हृदय से लोग अपरिचित रह गए।

जब भारत को गुलाम बनाने की कोशिशों में साम्राज्यवाद व्यस्त था, तब उसके बुद्धिजीवी यह प्रश्न किया करते थे– "क्या भारत के लोगों की कोई एक कौम है? क्या भारत में रहने वाले तरह–तरह की नस्लों और धर्मों के लोगों को, जिनको जात–पाँत की दीवारों ने अनेक टुकड़ों में बाँट रखा है, जिनमें भाषा के और अन्य अनेक प्रकार के भेद पाए जाते हैं – क्या इस पंचमेल खिचड़ी को एक 'राष्ट्र' या एक 'जाति' कहा जा सकता है? भारत में हजारों वर्षों से शोषक और शोषितों के बीच संघर्ष रहा है। शोषक सत्ता में रहा और शोषित सत्ता से बाहर। समय बदलने के साथ शोषकों के रूप और स्वरूप भी बदले। वैसे ही संघर्ष के उद्देश्यों में भी परिवर्तन हुए।

जिसमें नस्ल और जाति के कारण प्रमुख रहे। धर्म इन दोनों के बीच कारक बना। इसलिए भी कि जीत का परचम फहराते हुए सात समंदर पार से आकर अंग्रेजों ने यहाँ दस्तक दी।[2] ईस्ट इंडिया कंपनी 1600 में कायम हुई। प्लासी की लड़ाई 1757 में। अंग्रेजी राज के प्रसार में 1757 का साल महत्वपूर्ण है। इन डेढ़ सौ साल तक अंग्रेजों ने राज्य–विस्तार किया। साथ ही व्यापार–विस्तार भी किया और कहना चाहिए धर्म–विस्तार भी।[3] व्यापार, धर्म और सत्ता इन तीनों ने मिलकर भारतीयों का दोहन किया। हालांकि उनसे पूर्व के हमलावरों ने भी वैसा ही किया, लेकिन अंग्रेजों का भारत में आना और यहाँ आकर भारतीय समाज को एक नए दर्शन से परिचित कराना, पूर्व के हमलावरों और अंग्रेजों में थोड़ा फर्क करता है।

Scanned with CamScanner

हमें सोलहवीं शताब्दी के एक पुर्तगाली दुआर्ते बरबोसा द्वारा दिए गए जाति के विवरण का अध्ययन करना होगा। बरबोसा ने जाति के पांच प्रमुख तत्वों की शिनाख्त की थी। उसमें से हम सिर्फ पहले तत्व को लेते हैं। उसने जाति को एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था बनाया, जिसके शीर्ष पर ब्राह्मण और सबसे नीचे कल के 'अछूत' और आज के दलित थे।[4] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था के संदर्भ में गांवों की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को देखा था। इसलिए उन्होंने भारतीय गांवों को 'घैटोज' कहा था। जहाँ भंयकर रूप में जाति भेद विद्यमान था।

जहाँ ब्रिटिश भारत के आरंम्भिक चरण में भी भारतीय समाज विशेष रूप में हिंदू समाज अपनी अमानवीय परपंराओं तथा रूढ़ियों की जड़ों को ही पानी देने में लगा हुआ था। वहीं तरह–तरह की बहसों के बावजूद आखिर में 'एक जाति की दूसरी जाति पर सामाजिक श्रेष्ठता की कसौटी अथवा कर्मकांड के आधार पर बनी जाति श्रेणी के धर्मशास्त्रीय सिद्धांत को अंग्रेजों ने साफ तौर पर और सरकारी मान्यता दे दी थी।[5] इसके पीछे कारण अंग्रेजों को भारत में शासन करना था। अंग्रेज राजा बने और भारतीय मानस प्रजा।

जातियों की परिगणना और उनके नृवंशीय वर्णनों को राज्य द्वारा जमा करने के दौरान इस जानकारी पर भी प्रकाश पड़ा कि परंपरागत श्रेणीक्रम में किस प्रकार कुछ जातियों को सामाजिक और आर्थिक लाभ मिल रहा था और कुछ को नहीं।[6] इसका नतीजा यह हुआ कि कई जातियां शैक्षणिक और व्यावसायिक लाभों के साथ–साथ राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मामले में राज्य से विशेष मान्यता पाने की मांग करने लगी। इस बिंदु पर औपनिवेशिक राज्य ने दोहरी भूमिका अपनायी। बकौल धीरूभाई सेठ एक तरफ वह (ब्रिटिश शासक) ब्राह्मणों की तरह पारंपरिक श्रेणीक्रम में हैसियत के लिए विवादरत जातियों का दर्जा निर्धारित करने लगा। दूसरी ओर वह एक न्यायप्रिय तथा आधुनिक शासक भी बना रहा, जो अपनी कमजोर और गरीब प्रजा के अधिकारों और आकांक्षाओं को 'मान्यता' भी देना चाहता था। इस दोहरी भूमिका से ब्रिटिश राज्य को अपने औपनिवेशिक अर्थतंत्र को उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन के हमले से बचाने में भी मदद मिली। साथ ही कई नयी प्रवृतियाँ पैदा हुई, जिनमें एक यह भी थी कि लोग औपनिवेशिक शासन द्वारा निर्धारित शर्तों और तौर–तरीकों के आधार पर संगठित होने लगे ताकि जाति अस्मिताओं के तौर पर राजनीति में अपने हितों को प्रतिनिधित्व दे सकें और अर्थतंत्र में भागीदारी कर सकें।[7]

समाजवेत्ता और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) के निदेशक आशीष नंदी का मानना है कि 'सामंती विद्रोह' या 'प्रथम स्वाधीनता संग्राम' जैसे महासिद्धांतों में बांधकर 1857 जैसी विराट घटना को नहीं देखा जा सकता।[8] सात समुंदर पार की एक ताकत, जिसे भारतीय समाज के बारे में छोटी–मोटी चीजों की जानकारी तक न हो, यहां राज कर रही थी तो समाज के विभिन्न हितों का उसके साथ टकराव होना ही था।[9] एक बिंदु पर आकर इन हितों के बीच एकता बन जाना और टकराव का विस्फोटक रूप ले लेना भी स्वाभाविक था, लेकिन इस तथ्य का आप क्या करेंगे कि भारत में 50 हजार से ज्यादा अंग्रेज नहीं रहे– न 1857 से पहले और न ही इसके बाद यानि 1947 तक। ऐसे में जैसा

Scanned with CamScanner

डैलरिंपल का कहना है – अंग्रेजों का और भारतीयों का भी एक बड़ा हिस्सा यही सोचता था कि वे यहाँ एक किस्म की सहमति से राज कर रहे हैं।[10] यह धारणा 1857 के बाद नष्ट हो गई और ईस्ट इण्डिया कंपनी की जगह सीधे ब्रिटिश ताज के तहत एकतरफा, एकीकृत ब्रिटिश राज की शुरूआत हुई।

1857 एक तरह से दोनों पक्षों की आंख खुलने जैसा था– सतह के नीचे कितनी हिंसा दबी हुई थी, यह एक झटके में जाहिर हो गया। लोगों ने जब अपने अवचेतन पहलू धर्म पर चोट पड़ती महसूस की तो सारा गुस्सा उबलकर बाहर आ गया। उस समय इसे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की संज्ञा किसी ने नहीं दी। सबके लिए यह धर्म का ही संघर्ष था। लड़ाई के कोई चालीस साल बाद यह सावरकर थे, जिन्होंने इसे राष्ट्रवादी चरित्र और राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का नाम दिया।[11]

जब हम तत्कालीन भारतीय समाज का अध्ययन करते हैं और विशेष रूप से दलित क्रांतिकारियों की जीवन दशाओं तथा परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो हमें बहुत सी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। हमें उनके बीच आई चेतना को समय के आधार पर समझना होगा। आरम्भ में जातीय अस्मिता और उसके भीतर आई चेतना ने उन्हें उर्जा दी।[12] उदाहरण के लिए उत्तरी भारत में जाटव, पंजाब में रविदासी, दक्षिण में माला मादिगा तथा परिया महाराष्ट्र में महार, बिहार में दुसाध, पासी, चमार आदि जातियों के भीतर सभाओं के उभरने की शुरूआत हुई।[13]

इस तरह जाति अस्मिता के कारण दलित जातियों में भी फिर से गतिशीलता आई। इस गतिशीलता का दूसरा कारण था रोजगार के लिए अपने गांव, कस्बा तथा शहर से अन्य शहरों में जाना।[14] गांव–कस्बों से शहरों की ओर जैसे–जैसे दलितों के कदम बढ़ते गए, उनके रिश्तें विभिन्न ट्रेड यूनियनों से जुड़ते गए। 1871 में शुरू हुई जातियों के श्रेणीकरण की कोशिश ने जातीय आंदोलनों और विमर्श को जन्म दिया।[15] बदले में इन आंदोलनों और विमर्श ने जातियों के श्रेणीकरण को प्रभावित किया।

भारत में बहुत से सवर्ण बुद्धिजीवी भी इस तरह के सवाल उठाते रहे हैं या इन नकारात्मक सवालों को उठाने के आदी हो गए हैं कि दलितों ने तो आजादी के संघर्ष में भाग ही नहीं लिया या झलकारी बाई का नाम तो गजट में है ही नहीं। अपने कुतर्क को सही सिद्ध करने और कराने के लिए वे कभी डॉ0 अम्बेडकर का उदाहरण देते हैं तो कभी मायावती और काशीराम का। कुछ इनसे भी दस कदम आगे बढ़ जाते हैं और दलितों के नायकों को खलनायक बताने लगते हैं।[16] हालांकि सवर्णों के बीच से ही कुछ इतिहासकार, पत्रकार तथा समीक्षक ईमानदारी से उन ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकारने भी लगे हैं। जबकि प्रसिद्ध इतिहासकार अयोध्या सिंह का मानना है कि स्वाधीनता संग्राम में सभी जातियों के स्त्री–पुरूषों ने भाग लिया था। अपने आपको श्रेष्ठ पुरूष और उत्तम जाति मानने वाले ही आजादी के संग्राम में शामिल हुए और अन्य जाति के लोग दूर खड़े हुए तमाशा देखते रहे, ऐसा विवरण हमें इतिहास में नहीं मिलता।[17]

Scanned with CamScanner

सवर्णों (ब्राह्मणों) में से अधिकांश यह कहते नहीं थकते कि गांधी जी ही हरिजनों के एकमात्र नेता थे। चलो हम कुछ देर के लिए उनकी इस बात को मान लेते हैं। फिर करोड़ों हरिजनों ने गांधी जी की अगुआई में आजादी की लड़ाई में भाग न लिया हो, ऐसा कैसे हो सकता है?[18] गांधी जी ने तो स्वाधीनता संग्राम के दौरान पूरे भारत का भ्रमण किया था। कहा जाता है कि उनके पीछे–पीछे हजारों लोग चलते थे। क्या उनके पीछे–पीछे चलने वालों में दलित जातियों के लोग नहीं होते थे या स्वयं गांधी जी ने क्या मना किया हुआ था कि दलितों को आजादी के संघर्ष में भाग न लेने दिया जाए। उनके भाग लेने से आजादी छूत हो जाएगी।[19]

अयोध्या सिंह उपाध्याय के विचार में यह सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह था। वे लिखते हैं कि 1857 में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरूद्ध जो महाविद्रोह फूटा था, वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। सन्यासी विद्रोह से शुरू होने वाली अनेक विद्रोहों की एक सौ साल की लंबी श्रृंखला की यह विस्फोटक परिणति थी।[20]

मदन लाल नवल के विचार में सवर्णों ने हमेशा दलितों को कुचला, सामाजिक रूप से उनको अपमानित किया। फिर भी देशभक्ति में वे सवर्णों से आगे रहे। डॉ0 अम्बेडकर पहले व्यक्ति थे जो दलितों की दयनीय दशा देखकर उद्वेलित हुए थे।[21]

शीर्ष इतिहासकार विपिन चन्द्र पाल लिखते हैं कि हमारे देश या अन्य देशों जैसे अफ्रीका और चीन आदि पर उपनिवेशवाद का जो हमला हुआ तो 1860–1870 के बाद लोग समझने लगे कि यह विदेशी ताकत मात्र नहीं है बल्कि औपनिवेशिक ताकत है, पूंजीवादी ताकत है जो देश को अंदर तक खोखला कर देगी। वे लंबे समय तक यहाँ रहकर देश के आर्थिक संसाधनों का दोहन कर अपना हित साधती रहती थी। इसलिए देश के बुद्धिजीवी वर्ग ने सबसे पहले यह समझने की कोशिश की कि उपनिवेशवाद आखिर है क्या? तीन देशभक्तों दादाभाई नौरोजी, आर. सी. दत्त और जस्टिस रानडे ने इस पर गौर किया। उन्हें लगा कि कम्पनी राज के खिलाफ लड़ाई सिर्फ राजे–रजवाड़ों के सहारे नहीं लड़ी जा सकती है। इसमें पूरी जनता को शामिल करना होगा। इसलिए 1870–71 के बाद अंग्रेजों के खिलाफ एक नए किस्म की लड़ाई शुरू हुई और इंडियन नेशनल कांग्रेस का गठन हुआ। क्रांतिकारियों को एक राष्ट्रीय मंच मिला। इसके अलावा प्रदेश/नगर/कस्बा तथा गांव स्तर पर लोगों ने क्रांति के संघर्ष में भाग लिया।

अपनी स्वाधीन और महान् भारत माता का प्रसन्न चेहरा देखने के लिए इन क्रांतिकारियों में वही पागलपन था जो चैतन्य के अन्दर श्री कृष्ण का चेहरा देखने के लिए था। 'जिसकी माता के गले में दासता की श्रृंखलाएं बज रही हैं वह क्या अपने को दुर्बल सोचता हुआ बैठा रहेगा?[22]

आज इन क्रांतिकारी शहीदों की याद में ऐसा कुछ है जो पूरी तरह निराश और उदास नहीं होने देता। हमारे मन में उन्हें जो याद करने का संकल्प जगा है, आम जनता में उन भावनाओं को पुनः जागृत होने का ही परिणाम है, उस बीज से उत्पन्न फल ही है जिसे इन शहीदों ने अपने खून से गाते हुए सींचा था –

Scanned with CamScanner

सूख जाए न कहीं पौधा ये आजादी का
खून अपने से इसे इसलिए तर करते हैं।
दरो दीवार पे हसरत की नजर करते हैं
खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं।।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 चतुर्वेदी नरेशचन्द्र–स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहासः चाँद का फाँसी अंक, राजकमल प्रकाशन, न. दि; पृष्ठ 5
2 नैमिशराय मोहनदास – स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 6
3 डीन्कर डी.सी.–स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, लक्ष्मी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 15
4 नैमिशराय मोहनदास – स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 6
5 जौहर के.एल.– स्वतंत्रता संग्राम के अमर शहीद, स्नेह प्रकाशन, नोएडा, पृष्ठ 63
6 नैमिशराय मोहनदास – स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 7
7 स. त्रिपाठी वचनदेशः क्रांतिकारियों के ऐतिहासिक दस्तावेज राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 9
8 नैमिशराय मोहनदास – स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 9
9 वही, पृष्ठ 9
10 वही, पृष्ठ 9
11 डीन्कर डी.सी.–स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, लक्ष्मी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 21
12 नैमिशराय मोहनदास, स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली पृष्ठ 10
13 वही, पृष्ठ 10
14 चतुर्वेदी नरेशचन्द्र–स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहासः चाँद का फाँसी अंक, राजकमल प्रकाशन, न. दि; पृष्ठ 15
15 वही, पृष्ठ 16
16 नैमिशराय मोहनदास, स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 11
17 वही, पृष्ठ 11
18. डीन्कर डी.सी.–स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, लक्ष्मी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 18
19 वही, पृष्ठ 19
20 नैमिषराय मोहनदास, स्वाधीनता संग्राम में दलितों का योगदान, नीलकंठ प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; पृष्ठ 13
21 वही, पृष्ठ 19
22 स. त्रिपाठी वचनेशः क्रांति के वे दिन, पी.पी.पी. एच. प्रकाशन, द्वि.स. 1976, पृष्ठ 178

Scanned with CamScanner